श्रुति की दो परस्पर विरोधी परम्पराओं के मूल प्रवर्तक: जैमिनि और बादरायण

'इति श्रुते:' दर्शन का साधारण से साधारण विद्यार्थी इस वाक्य को अक्सर सुनता व पढ़ता है एवं यह भी मानता है कि कम से कम वैदिक परम्परा में श्रुति की सर्वमान्यता व सर्वप्रामाणिकता तो स्वीकृत है ही। और श्रुति क्या है, इसके बारे में भी कोई संदेह नहीं है, न उसे कभी कोई संदेह करने का कारण ही बताया जाता है। यह स्थिति तब है जबकि उसी परम्परा में स्पष्ट तौर पर यह भी कहा गया है कि "एको न ऋषि: यस्य वच: प्रमाणम्।" पर श्रुति क्या है, ऐसा पूछने पर सभी लोग एक स्वर से उत्तर देते हैं, वेद। कोई यदि पूछे कि वेद क्या है, तो उसी दृढ़ आवाज में उत्तर मिलता है कि—ऋक्, यजु:, साम व अथर्व। वेदों के चार नाम जगत् विख्यात हैं पर यदि कहा जाये कि तुम यजुर्वेद लाकर दो अथवा उसकी प्रति दिखाओ तो क्या ऐसा सम्भव है? वास्तव में असम्भव है क्योंकि ऐसा कोई ग्रन्थ है ही नहीं; जो भी वह लायेगा वह केवल यजुर्वेद ही नहीं कहलायेगा वरन् उसके आगे अवच्छेदक लगा होगा। वह या तो शुक्ल शब्द से अथवा कृष्ण शब्द से विशेषित होगा। लगता है कि गोरे-काले का भेद वैदिक ऋषियों में भी प्रचलित था। इसलिए उन्होंने यज्ञों से सम्बन्धित सबसे प्रधान वेद को काले और गोरे में बाँटा। जहाँ एक को शुक्ल कहा गया वहीं दूसरे को कृष्ण। किन्तु दोनों को आमतौर पर यजुर्वेद ही कहा जाता है और जब कोई पूछ भी बैठता है कि इन दो यजुर्वेदों में, जो शुक्ल व कृष्ण नाम से जाने जाते हैं, उनमें क्या भेद है, तो यही कहा जाता है कि एक में मंत्र और ब्राह्मण अलग हैं, जबकि दूसरे का ब्राह्मण ग्रन्थ मन्त्रों के साथ ही जुड़ा हुआ है। शुक्ल यजुर्वेद का ब्राह्मण शतपथ ब्राह्मण के नाम से स्वतंत्र रूप से माना जाता है जबकि कृष्ण का ब्राह्मण उस संहिता के अभिन्न अंग के रूप में मिलता है। परन्तु यह बात ठीक होने पर भी कोई विशेष महत्त्व नहीं रखती, क्योंकि यदि कोई चाहे तो सरलता से कृष्ण यजुर्वेद के ब्राह्मण अंशों को भी अलग कर सकता है और यदि परम्परा में ऐसा नहीं किया गया तो यह

अनिवार्य नहीं है कि अब भी ऐसा नहीं किया जाए। पर अगर दोनों में केवल यही भेद होता तो इन दोनों को यजुर्वेद कहना कोई गलत बात न होती। परन्तु जैसा विद्वान लोग जानते हैं, दोनों में केवल यही भेद नहीं है। दोनों के मूल मंत्रों में भी अनेक भेद हैं, उनको हम यजुर्वेद की शाखा के रूप में भी स्वीकार नहीं कर सकते। क्योंकि यदि हम उनके स्वयं के परम्परागत भेदों को स्वीकार करें तो मंत्र व ब्राह्मण का सम्बन्ध जो शुक्ल यजुर्वेद में मिलता है वैसा ही कृष्ण यजुर्वेद में भी मिलना चाहिए। परन्तु ऐसा नहीं है। यदि हम कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय संहिता को लें और उसकी शुक्ल यजुर्वेद की वाजसनेयी संहिता के शतपथ ब्राह्मण के अंशों से तुलना करें तो हमें ज्ञात होगा कि पहले के अनेकानेक मंत्र या ब्राह्मण दूसरी में मिलते ही नहीं हैं। तैत्तिरीय संहिता के 651 मंत्र व ब्राह्मण में से वाजसनेयी संहिता तथा शतपथ ब्राह्मण में केवल 392 मंत्र ही मिलते हैं। अगर इनमें से ब्राह्मण अंशों को हटाकर हम केवल मंत्रों की ही बात करें जो दोनों में समान है तो उनकी संख्या और भी कम नजर आयेगी। वाजसनेयी संहिता में मंत्रों की संख्या 3988 समझी जाती है जबकि उनमें पूरी कण्डिकाएँ 1975 ही होती हैं। कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय संहिता के बराबर कण्डिकाएँ ब्राह्मण अंशों को मिलाकर भी केवल 651 ही पायी जाती हैं। कीथ के अनुसार केवल 392 कण्डिकाएँ ही दोनों में एक साथ पायी जाती हैं।

वेदों के सम्बन्ध में और भी अन्य बहुत से प्रश्न हैं जो मैंने अपने लेख 'दि वैदिक कॉर्पस: सम क्वश्चंस' में उठाए हैं, यहाँ केवल इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि जिसे हम श्रुति कहते हैं और उसमें यदि केवल वेद को ही श्रुति रूप में स्वीकार करें तब भी वह श्रुति क्या है, इसका निर्णय आसानी से नहीं किया जा सकता। यह बात तब और भी गहरी संदेहात्मकता ले लेती है जब हम इस ओर ध्यान दें कि वेदों में अनेक अंश ऐसे भी हैं जिन्हें परम्परा स्वयं 'खिल' रूप में स्वीकार करती है। 'खिल' का अर्थ है कि वे वास्तव में वेद का भाग नहीं है किन्तु येन-केन-प्रकरेण, अनधिकारी होते हुए भी उन्हें शामिल कर लिया गया है। यह और भी आश्चर्यजनक लगता है जब वेद के वही मंत्र जो एक में 'खिल' माने जाते हैं, दूसरे वेद में ठीक समझे जाते हैं। यह बात हमारा ध्यान इस ओर भी दिलाती है कि वेद की अलग-अलग संहिताओं में उन्हीं मंत्रों की बार-बार पुनरावृत्ति होती है और इस प्रकार भिन्न-भिन्न कही जाने वाली संहिताएँ वास्तव में उतनी भिन्न नहीं है जितनी कि समझी जाती हैं।

इसके साथ ही यह भी ध्यान देने लायक बात है कि मूल संहिताओं के साथ अनेक शाखा भेद परम्परा में ही स्वीकार किये जाते हैं और उस शाखा के मानने वालों के लिए वही पाठ प्रामाणिक होता है, किसी अन्य शाखा का पाठ नहीं।

शाखाओं का परम्परा भेद कोई ऐसा-वैसा भेद नहीं है, परन्तु जिन शाखाओं के ग्रन्थ उपलब्ध हैं यदि उन्हें ध्यान से देखा जाए तो पता चलेगा कि उनमें कई बार तो इतना मौलिक भेद होता है कि उन्हें एक वेद की शाखा के रूप में मानना 'शाखा' शब्द ही के साथ अन्याय करना है। इसके साथ ही अगर हम इस पर भी ध्यान दें कि मंत्र क्या है? तो इसके बारे में ही कोई आम सहमति नहीं है। स्वयं सायण मंत्र का लक्षण बताने में अपनी असमर्थता व्यक्त करते हैं और इस संदर्भ में अपनी परिचर्चा यह कहकर समाप्त करते हैं कि जिसको याज्ञिक मंत्र मानता है उसे ही मंत्र समझा जाना चाहिए। संहिताओं के साथ कितनी ही समस्याएँ रही हों पर उतने से भी अधिक ध्यान देने की बात यह है कि 'श्रुति' शब्द को केवल संहितामात्र से कभी भी सीमित नहीं किया गया। खासकर प्राचीन परम्परा में तो कभी नहीं हुआ। आधुनिक युग में महर्षि दयानन्द सरस्वती ने ऐसी चेष्टा की है एवं शायद योगीराज अरविन्द ने भी ऐसा ही किया है। अनिर्वाण जी की पुस्तक 'वेद-मीमांसा' भी शायद इसी परम्परा में है। पर ये लोग 'श्रुति' शब्द का प्रयोग या तो करते ही नहीं, या यदा-कदा ही करते हैं। परम्परा में तो 'श्रुति' का अर्थ केवल संहिता मात्र से कभी भी नहीं लिया गया। जैमिनि के लिए तो 'संहिता व ब्राह्मण' सम्मिलित रूप में ही 'श्रुति' के पर्यायवाची हैं। हालांकि यह समझना मुश्किल है कि यदि वे ब्राह्मण ग्रन्थों को श्रुति का अनिवार्य अंग मानते हैं तो साथ ही उन्हें अपौरुषेय कैसे मान सकते हैं? पर इससे भी अधिक आश्चर्य की बात तो यह है कि वे आरण्यक व उपनिषदों को 'श्रुति' का स्थान नहीं देते एवं उनके लिए तो 'श्रुति' मंत्र व ब्राह्मण तक ही सीमित रहती है। आरण्यक और उपनिषद् उनके लिए श्रुति की परिभाषा से बाहर हैं। यही नहीं, वे श्रुति को प्रधानत: यज्ञ-केन्द्रित मानते हैं एवं इसीलिए उनके अनुसार वेद के मूल वाक्य केवल विधिपरक हैं। वाक्य में क्रिया-पद ही प्रधान एवं केवल विधि वाक्य ही वेद वाक्य माने जा सकते हैं। बाकी सब वाक्य या तो केवल आनुषंगिक या केवल अर्थवाद हैं। 'अर्थवाद' कहने का अर्थ यह है कि जैमिनी के अनुसार विधि-वाक्य को छोड़कर बाकी सब वैदिक वाक्यों का अर्थ अभिधा के रूप में न लेकर लक्षणा या व्यंजना के रूप में लेना चाहिए।

इसके बिल्कुल विपरीत बादरायण ने ब्रह्मसूत्र में श्रुति का अर्थ प्रधानत: आरण्यक व उपनिषदों तक ही सीमित रखा। उनके लिए संहिता व ब्राह्मण ग्रन्थ पूर्णरूपेण गौण थे। यही नहीं, उनकी व्याख्या यज्ञकेन्द्रित न होकर 'ब्रह्मकेन्द्रित' थी। इसलिए उन्होंने वैदिक वाक्यों को क्रिया-प्रधान या विधि-वाक्यों के रूप में स्वीकार नहीं किया बल्कि उनकी प्रधान चेष्टा यही दिखाने की प्रतीत होती है कि जहाँ कहीं भी उपनिषदों में उपासना आदि की चर्चा है वहाँ उसको 'क्रिया' या 'कर्म' रूप में नहीं समझना चाहिये।

केवल उपनिषद् को ही श्रुति मानने वाले या प्रधान रूप से ही उन्हें श्रुति स्वीकार करने वाले परम्परागत विद्वानों के लिए यह मूलभूत समस्या उठनी चाहिए कि यदि उपनिषद् स्वतंत्र ग्रन्थ नहीं है तो वे श्रुति के रूप में कैसे स्वीकार किए जा सकते हैं और किस आधार पर किसी को भी यह कहने का अधिकार हो सकता है कि उन ग्रन्थों का केवल वही भाग, जो उपनिषद् के रूप में संकलित है, श्रुति है और बाकी नहीं। ग्रन्थों की एक-वाक्यता पर इससे गहरा आघात होता है। यदि श्रुति के अंगों में भी भेद किया जा सकता है और यह कहा जा सकता है कि कुछ प्रधान हैं और कुछ गौण, तो उनको श्रुति-रूप में कैसे स्वीकार किया जा सकता है? यह ठीक है कि (प्राचीनतम) प्रमाण रूप में माने जाने वाले उपनिषदों में भी कुछ उपनिषद् ऐसे हैं जो किसी अन्य ग्रन्थ के अंश नहीं हैं। मुण्डक, माण्डूक्य और प्रश्नोपनिषद् इस प्रकार के स्वतंत्र ग्रन्थ कहे जा सकते हैं, क्योंकि ये अन्य उपनिषदों की तरह किसी संहिता, ब्राह्मण या आरण्यक के अंग नहीं हैं। बाद में लिखे जाने वाले करीब-करीब सब उपनिषद् इसी प्रकार के हैं। उपनिषदों को अथर्ववेद से सम्बन्धित मानने की परम्परा केवल इसी पूर्वाग्रह को लक्षित करती है कि उपनिषदों को किसी न किसी वेद के साथ जोड़कर वैदिक परम्परा में ही रखा जाए। परन्तु स्पष्टत: शैव, शाक्त और वैष्णव माने जाने वाले उपनिषदों के बारे में तो यह सही नहीं माना जा सकता, क्योंकि ये सब साधारणत: आगम परम्परा में ही सम्मिलित किये जाते हैं और आगम-परम्परा को आम तौर पर वैदिक परम्परा से भिन्न माना जाता है। मिसाल के तौर पर पांचरात्र को कोई भी वैदिक परम्परा का अंग नहीं मानता और यदि कोई माने तो भी उसको इस सवाल का जवाब देना होगा कि अगर यह सच है तो यामुनाचार्य को फिर **आगम-प्रामाण्य** लिखने की क्या ज़रूरत पड़ती? आगमों के प्रामाण्य को लेकर परम्परा में बहुत चर्चा है और यह बात केवल जैन आगमों तक ही सीमित नहीं है बल्कि शैव, शाक्त व वैष्णव आगमों के लिए भी जैन आगमों जितनी ही सत्य है। बौद्ध परम्परा के मूल ग्रन्थों को साधारण तौर पर आगम की संज्ञा नहीं दी जा सकती, पर त्रिपिटक का स्थान उस परम्परा में वही है जो जैन आगम के आदि ग्रन्थों का। इन सब का अर्थ केवल इतना ही इंगित करना है कि ऐसे सब ग्रन्थ, जो उपनिषद् के नाम से जाने जाते हैं, उनको अथर्ववेद से जोड़कर वैदिक परम्परा में नहीं माना जा सकता।

यह सब सच होते हुए भी दो बातें तो स्पष्ट हैं कि जैमिनि ने जिन ग्रन्थों को प्रधान रूप से श्रुति के रूप में स्वीकार किया था बादरायण के लिए वे प्रधानत: श्रुति नहीं थे। दूसरे यह कि जैमिनि ने श्रुति के वाक्यों के अर्थ निर्धारण की जो विधि अपनायी वह उस विधि के बिल्कुल विपरीत थी जो बाद में ब्रह्मसूत्र में बादरायण ने अपनायी। केवल मंत्र और ब्राह्मण को ही श्रुति मानने वाले जैमिनि के

लिए यह समस्या उठनी चाहिए थी कि ईश उपनिषद् जो शुक्ल यजुर्वेद का 40वाँ अध्याय है और बृहदारण्यक उपनिषद्, जो शुक्ल यजुर्वेद के शतपथ ब्राह्मण का अन्तिम भाग समझा जाता है, श्रुति क्यों नहीं स्वीकार किया जाए। आचार्य शंकर ने तो ईशोपनिषद् पर अपना भाष्य यही कहकर शुरू किया है कि इसका कर्म या यज्ञ से कोई सीधा या टेढ़ा सम्बन्ध नहीं है और इसलिए जैमिनि आदि मीमांसकों का यह कथन कि वेद केवल यज्ञपरक ही हैं, गलत सिद्ध होता है। यही बात किसी हद तक बृहदारण्यक के बारे में भी सत्य प्रतीत होती है, हालांकि इसमें कोई संदेह नहीं कि उसके बहुत से अंश, विशेषकर प्रारम्भिक अंश, उनका आत्मा या ब्रह्म की चर्चा से बहुत निकट सम्बन्ध नहीं है। इसी प्रकार जैमिनि व उनकी परम्परा के आचार्यों के लिए यह समस्या उठनी चाहिए थी कि ऐसे ग्रन्थ जो ब्राह्मण और उपनिषद् दोनों नामों से जाने जाते हैं उन्हें किस प्रकार समझा जाए! इसका एक उदाहरण जैमिनीय उपनिषद्-ब्राह्मण है जिसके नाम में ही उपनिषद् और ब्राह्मण दोनों स्पष्ट रूप से मिलते हैं। यदि यह ब्राह्मण है तो यह जैमिनि और उसके परवर्ती मीमांसकों के लिए श्रुति रूप में मान्य होना चाहिए, परन्तु यदि उसे उपनिषद् रूप में स्वीकार किया जाए तो यह उनके लिए मान्य न होकर केवल बादरायण के लिए ही मान्य रहेगा। बादरायण के लिए भी कुछ-कुछ ऐसी ही समस्याएँ उठनी चाहिएँ क्योंकि जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, अनेकानेक उपनिषद् स्वयं किसी संहिता या ब्राह्मण ग्रन्थ का भाग हैं। दूसरा विकल्प जो उनके लिए बचा रहता है वह केवल यही है कि वे सिर्फ मुण्डक या माण्डूक्य और प्रश्न को ही उपनिषद् के रूप में स्वीकार करें। परन्तु न तो बादयरायण ने, न वेदान्त के परम्परागत विद्वानों ने इस समस्या की ओर कोई ध्यान दिया है।

इससे भी गहरी समस्या तो यह है कि जैमिनि के अनुसार श्रुति वाक्य केवल क्रिया-प्रधान होती है और उसकी व्याख्या केवल यज्ञ के संदर्भ में ही की जा सकती है, बाकी सब वाक्य केवल आनुषंगिक हैं और उनको केवल अर्थवाद के रूप में ही स्वीकार करना चाहिए। यदि यह मान लिया जाए तो ब्रह्म सम्बन्धी सब वाक्य, जो बादरायण के लिए श्रुति का केन्द्र हैं, केवल अर्थवाद हो जाते हैं और इस प्रकार सारा वेदान्त का वाङ्मय एक भयंकर भूल सिद्ध होता है। इसके विपरीत, यदि 'आत्म' और ब्रह्म-परक वाक्यों को ही 'श्रुति' का नाम दिया जाये, तो वेदों में आने वाले सब क्रियापरक वाक्य, जो प्रधानत: यज्ञ से सम्बन्ध रखते हैं, निरर्थक लगेंगे, या कम से कम वे श्रुति के प्रधान विषय के रूप में उपस्थित नहीं होंगे। इस संदर्भ में यह ध्यान देने योग्य बात है कि जबकि जैमिनि की परम्परा में स्पष्टत: ही अर्थवाद का सिद्धांत मिलता है और इस बात की भी चर्चा है कि श्रुति के यज्ञपरक अर्थों को छोड़कर बाकी अर्थों को किस प्रकार समझा जाए,

बादरायण में ऐसा कोई विशेष प्रयत्न नहीं दिखता। कहने का आशय यह है कि बादरायण से नि:सृत होने वाली वेदान्त चिन्तन की परम्परा में, जहाँ तक मुझे ज्ञात है, अर्थवाद जैसा कोई सिद्धान्त नहीं है, परन्तु बिना किसी अर्थवाद के सिद्धान्त के किसी भी श्रुति माने जाने वाले ग्रन्थ की व्याख्या हो ही नहीं सकती, क्योंकि उसमें कुछ ऐसे अंश तो होंगे ही जो व्याख्याकार के मत में श्रुति का केन्द्र बिन्दु न होकर आनुषंगिक या गौण हैं और जिन्हें केवल लक्षण या व्यंजना के रूप में ही समझा जाना चाहिए। यह बात और है कि विचार किन अंशों को इस रूप में ही समझने का आग्रह करे पर किसी न किसी अंश को तो उसे इस रूप में लेना ही पड़ेगा, क्योंकि साधारणतया यह असम्भव सा ही है कि श्रुति माने वाले ग्रन्थ के सभी वाक्य एक स्वर से और एक ही तरह से उसकी व्याख्या को अनुमोदित करें। इस तरह से देखने पर अर्थवाद का सिद्धान्त किसी भी ग्रन्थ की व्याख्या का एक अनिवार्य अंश हो जाता है। परन्तु अर्थवाद का तो अर्थ ही यह है कि जो अर्थ प्रतीत होता है वैसा वह वास्तव में नहीं है और इसको उसी प्रकार समझना एक भयंकर भूल है। अर्थ के सम्बन्ध में प्रतीति और सत् का यह भेद, जहाँ तक मुझे मालूम है, दार्शनिक चिन्तन का विषय नहीं रहा है। पर इस ओर ध्यान दिया जाये तो अर्थ की अनेकांतिकता शब्दों में स्वयं ही निहित प्रतीत होगी। यही नहीं, बल्कि वास्तव में अर्थ क्या है इसके बारे में मतभेद न केवल अनिवार्य ही होंगे बल्कि उनमें सदैव एक ऐसी अनिश्चितता रहेगी जिसका निराकरण सिद्धान्तत: असम्भव है।

अभी कुछ दिन पहले प्रो. रामचन्द्र द्विवेदी ने अपने एक भाषण में इस ओर इशारा किया था कि भर्तृहरि के अनुसार अर्थ एक प्रकार का विवर्त है जो शब्द में प्रतीत होता है। परन्तु उनके ही अनुसार भर्तृहरि में यह स्पष्ट नहीं है कि विवर्त से उनका अर्थ, साधारणत: उसका जो अर्थ अद्वैत वेदान्त की परम्परा में लिया जाता है, वही है या उससे भिन्न। परन्तु भर्तृहरि का स्वयं अपना मत कोई भी हो अर्थवाद को, या कहें अर्थाभास को, अर्थ का अनिवार्य अंग मानने पर अर्थ एक प्रकार का अद्वैतिक विवर्त ही होगा। इस संदर्भ में उन्होंने यह भी कहा था कि भारतीय दार्शनिक परम्परा में शब्द के नित्यत्व की ही बात की गई है, अर्थ के नित्यत्व की नहीं। चाहे जो भी हो, इतना तो साफ ही है कि जैमिनि हों या बादरायण दोनों अपने मत को श्रुति सम्मत सिद्ध करने के लिए इस सबको अर्थवाद या अर्थाभास मानते हैं जो दूसरे के लिए उसका सही अर्थ है।

परन्तु केवल इतना ही नहीं है, इससे भी अधिक आश्चर्य की बात तो यह है कि जैमिनि और बादरायण दोनों एक प्रकार से इस बात को पूरी तरह नजरअंदाज करते हैं कि जिनको वे प्रधानत: श्रुति के रूप में स्वीकार करते हैं वे स्वयं उनके ग्रन्थों के अभिन्न अंग हैं, जिन्हें वे श्रुति के रूप में अस्वीकार करते हैं। जैमिनि इस

बात की ओर बिल्कुल भी ध्यान नहीं देते कि बहुत सारे उपनिषद् या आरण्यक संहिता या ब्राह्मण ग्रन्थों के अभिन्न अंग हैं। ईशोपनिषद् तो शुक्ल यजुर्वेद का चालीसवाँ अध्याय सर्वसम्मति से माना जाता है। इसी का करीब-करीब सब प्रधान उपनिषद् ब्राह्मण या आरण्यक के भाग हैं, मुण्डक, माण्डूक्य तथा प्रश्न ही इसके अपवाद हैं। यदि हम उन्हें ही प्रधान उपनिषद् के रूप में स्वीकार करें जिन पर आचार्य शंकर ने अपना भाष्य लिखा है, तो भी केवल इन तीन को छोड़कर बाकी सभी स्वतंत्र ग्रन्थ न होकर संहिता, ब्राह्मण या आरण्यक का भाग ही हैं जिन्हें किसी ने पृथक् रूप से उनमें से निकालकर अलग उपनिषद् की संज्ञा दे दी थी। परन्तु अलग संकलन करने से और उस संकलन को नया नाम दे देने से ही वे कोई स्वतंत्र ग्रन्थ नहीं हो जाते। परन्तु ऐसा लगता है कि जैमिनि और बादरायण ही नहीं, उनके परवर्ती आचार्य भी इस भ्रान्ति से ग्रसित प्रतीत होते हैं। ऐसा लगता है कि शंकर से मध्य युग तक सब आचार्य उपनिषदों को स्वतंत्र ग्रन्थ के रूप में देखते हैं और यही बात राधाकृष्णन् प्रभृति अनेक आधुनिक विद्वानों के बारे में भी सही प्रतीत होती है, जिन्होंने उपनिषदों को स्वतंत्र मानकर उन पर नयी टीकाएँ लिखी हैं। इस भ्रांति के फैलने का शायद एक यह भी कारण था कि करीब-करीब सब लोग ऐसा मान बैठे कि वे ग्रन्थ, जो उपनिषद् के नाम से जाने जाते हैं, श्रुति, यानि संहिता, ब्राह्मण और आरण्यक के अन्तिम भाग हैं। ऐसा मानने के कारण ही उनको वेदान्त की संज्ञा भी दी गई और उनमें जो मत प्रतिपादित किया गया है उसको भी वेदान्त कहकर पुकारा गया है। परन्तु इन मान्यताओं का कोई सुदृढ़ आधार नहीं है। अनेक उपनिषद् कहे जाने वाले संकलन बार-बार बीच में से ही संकलित किये गये हैं, जैसा कि ऐतरेय उपनिषद् के बारे में सर्वविदित है। ईशोपनिषद् तो किसी ब्राह्मण या आरण्यक का भाग है ही नहीं और जैमिनीय ब्राह्मण उपनिषद् जैसे अनेक ऐसे ग्रन्थ भी हैं जो ब्राह्मण और उपनिषद् का संकलित रूप हैं। प्राचीनकाल में प्रचलित इन भ्रान्तियों को जब तक हटाया नहीं जाएगा तब तक श्रुति रूप में माने जाने वाले ग्रन्थों के बारे में कोई स्पष्ट धारणा बनानी मुश्किल ही होगी, परन्तु इसमें कोई संदेह नहीं है कि जैमिनि और बादरायण ने श्रुति को मूलत: विभाजित और खण्ड़ित दृष्टि से देखा। एक प्रकार से श्रुति की एकवाक्यता पर कुठाराघात था जिसको परवर्ती चिन्तकों ने यह कह कर झुठलाने की कोशिश की कि एक पूर्वमीमांसा है और दूसरी उत्तरमीमांसा। वास्तव में इन शब्दों का कोई अर्थ ही नहीं है, क्योंकि अर्थ तो तब होता जब जैमिनि आरण्यकों व उपनिषदों को श्रुति रूप में स्वीकार करते या बादरायण मंत्र और ब्राह्मणों को श्रुति के रूप में मान लेते, परन्तु यदि ऐसा नहीं है तो फिर 'पूर्व' और 'उत्तर' कहने का क्या आशय है? जैमिनि के लिए कोई 'उत्तर' नहीं है एवं बादरायण के लिए कोई 'पूर्व' नहीं है। उनके लिए

केवल मात्र वही श्रुति है जिसे वे मानते हैं एवं जिसकी वे चर्चा करते हैं। यही नहीं, उनके श्रुति सम्बन्धित व्याख्यापरक सिद्धान्तों में भी मूल भेद है एवं यह भेद सामान्य नहीं वरन् जमीन-आसमान का भेद है। श्रुति की व्याख्या यज्ञपरक हो या ब्रह्मपरक इन दो दृष्टियों में इतना गहन व मौलिक भेद है कि इन्हें 'पूर्व' व 'उत्तर' के रूप में मानना केवल उनके साथ ही अन्याय करना नहीं है वरन् स्वयं को भी धोखा देना है। आज के संदर्भ में किसी भी निष्पक्ष विचारक के लिए, जिसकी बुद्धि निस्संग है और जिसका स्वयं अपना कोई आग्रह नहीं है, उसको श्रुति परम्परा के समस्त ग्रन्थों क़ो समग्र रूप में देखने की चेष्टा करनी चाहिए और जो उपनिषद् केवल संकलन मात्र हैं उनको स्वतंत्र ग्रन्थ न मानकर जिन ग्रन्थों के वे अभिन्न अंग हैं उनके संदर्भ में ही देखने की चेष्टा करनी चाहिए। यही नहीं, श्रुति में जो विचार की विभिन्न धाराएँ दृष्टिगोचर होती हैं उनको अपनी बुद्धि और सामर्थ्य के अनुसार प्रकट करने का प्रयत्न करना चाहिए। बादरायण व जैमिनि के एकांगी आग्रहों को अस्वीकार करते हुए भी इस बात को नहीं भुलाना चाहिए कि उन्होंने श्रुति को खण्डित रूप में ही नहीं देखा बल्कि उसके अर्थ में भी गहरा विरोध दर्शाया। इसके साथ ही यह प्रश्न भी अपने सामने स्पष्ट रूप में रखना चाहिए कि उपनिषदों को श्रुति रूप में स्वीकार करते हुए भी परम्परा में उपनिषद् के नाम से लिखे जाने वाले ग्रन्थों की रचना करीब-करीब तेरहवीं शताब्दी तक चलती रही, और यदि ऐसा हुआ तो क्या उनको श्रुति रूप स्वीकार करना उचित है? जब तक परम्परा को हम एक नयी, खुली व मुक्त दृष्टि से नहीं देखेंगे तब तक हम श्रुति के साथ जो अन्याय जैमिनि और बादरायण ने किया है उसकी ओर से अनभिज्ञ ही रहेंगे, और मंत्र की तरह बार-बार यह रटकर कि एक पूर्व-मीमांसा है एवं दूसरी उत्तर मीमांसा, स्वयं को सांत्वना देते रहेंगे। पर यह सांत्वना केवल आत्मछलना ही होगी, इससे अधिक कुछ नहीं।

❑